साम्राज्यवादी विकास की वक्रता और आतंकवाद का तर्क

''बच्चों के होश सँभालने के साथ ही माँएँ उनके मन में एक आतंक भर देती थीं। यह सामान्य सा मुहावरा था 'हुणियाँ' आया। सुनते ही रोते हुए बच्चे सहम कर चुप हो जाते और जिद्दी बच्चा अपनी माँगें भूल जाता था। ऐसे ही वातावरण में हम पले बढ़े थे। ''

- शेखर जोशी

प्रफुल्ल कोलख्यान

आज आतंक और आतंकवाद के नाना रूप सामने आ गये हैं। नई आर्थिक नीति के अंतर्गत आवारा वित्तीय पूँजी की साम्राज्यवादी विश्वाकांक्षा के प्रसार के साथ ही आतंक और आतंकवाद की चौंकाऊ बढ़त भी सामने आई है। आतंक और आतंकवाद की जटिलताएँ भी बढ़ी हैं। सभ्यता के इतिहास में मनुष्य का जीवन आज सब से अधिक अनिश्चित और तदर्थ बनकर रह गया है ! एक क्षण के लिए सोचिए तो, जिन नीतियों के कारण दुनिया की बहुत बड़ी आबादी के सामने रोजी-रोटी का खतरा पैदा हो गया है, बेहतर जीवन के सपने धुँधले और मरणासन्न हो गये हैं, शिक्षा एवं चिकित्सा पाने के अवसर बड़ी तेजी से खोते जा रहे हैं, अर्थात सहज मानवीय जीवन जी सकने की संभावनाओं की परिधि से भी बहुत दूर खदेड़ी जा रही है उस बड़ी आबादी के लिए आतंकित करनेवाली इनसे बड़ी नीतियाँ और क्या हो सकती हैं? इन नीतियों के लागू होने से बड़ी आतंकवादी घटनाएँ और क्या हो सकती हैं? क्या आतंक के रूप में चिह्नित किये जा रहे हिंसक किंतु किसी भी अर्थ में शोषण की विरोधिता से उत्पन्न आतंक की तुलना में किसी भी प्रकार से इस अहिंसक किंतु शोषक आतंक को कम खतरनाक माना जा सकता है? मानवीय सभ्यता को खतरा दोनों से है। कहना न होगा कि फिर भी, मानवीय सभ्यता को आज सब से बड़ी,तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष चुनौती हिंसक आतंकवाद से ही मिल रही है। ऐसे में, स्वाभाविक है कि इस समय अहिंसक (!) आतंकवाद की ओर ध्यान देने या उसके बारे में सोचने का बहुत अधिक अवकाश नहीं बचता है। हिंसक आतंक, इस प्रकार, अहिंसक आतंक के नैतिक प्रतिरोध के राजनीतिक प्रसार के अवसर को संकुचित ही करता है। हिंसक आतंकवाद हो या अहिंसक आतंकवाद दोनों एक दूसरे के पूरक ही ठहरते हैं। इसीलिए आज विभिन्न साम्राज्यवादी राज्य-शक्तियों से विभिन्न स्तर पर और विभिन्न रूपों में आतंकवाद को प्रश्रय और पोषण ही प्राप्त हो रहा है। विडंबना यह कि आतंकवाद को यह प्रश्रय और पोषण आतंकवाद विरोधी कार्रवाइयों से भी मिल रहा है। साम्राज्यवादी राज्य शक्तियाँ अपने पूँजी-हितों के पक्ष में प्रच्छन्न युद्ध चलाये रखने, विकासशील देशों को आपस में उलझाये रखने, विकासशील राज्यों की व्यापारिक सीमाओं और वास्तविक संप्रभुताओं को तोड़ने के लिए इस आतंकवाद का प्रसार और प्रयोग करती हैं। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के फैलने और पाँव पसारने का अपना एक बहुराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य है तो राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य भी है। इस राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। साम्राज्यवादी विकास की राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय वक्रताओं से आतंकवाद के रिश्ते को भी समझना जरूरी है। जिस राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिकी में सौ-पचास रुपयों में माताएँ अपने नवजात शिशु को बेचने के लिए विवश हो जाती हों, उस राजनीतिक

व्यवस्था में हजार-पाँच सौ रुपयों के लिए युवकों और किशोरों का आतंकवादी शिविरों में शामिल होने के लिए आकृष्ट और प्रलुब्ध हो जाने में क्या अचरज है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के विकास की वक्रताओं और आतंकवाद से रिश्ते को गहन मानवीय सरोकार के साथ समझना और भी जरूरी हो जाता है। इस तरह की राजनीतिक व्यवस्था के कारण मानवीय सभ्यता की नौका में आतंकवाद से बने छेद से भर रहे पानी को इस समय दोनों हाथ से उलीचने की जरूरत को समझना ही सयानो काम है। साथ ही यह भी सावधानी रखनी होगी कि असली हल तो इस छेद को मानवीय गरिमा की लोकतंत्रीय हीर की समताकांक्षी चेतना और सम्यक विकास की सरलता के सद्भावनामूलक प्रयास से बंद करने पर ही निकल पायेगा। यह साफ है कि इस समय पूँजीवादी राजनीतिक व्यवस्था की बौद्धिक एवं राजनीतिक परियोजनाओं में पूँजी के शीर्ष को बनाये रखने के लिए सामाजिक-सामुदायिक सीमाओं की पारंपरिक लक्ष्मण रेखाओं के भीतर ही प्रभावी ढंग से लोकतंत्र को विघटित करने की चिंता अधिक है। उनकी परियोजनाओं में इस विघटन को अंतत: राष्ट्रों के राजनीतिक विघटन में बदलने की भी मंशा है। इसके लिए राष्ट्रवाद की अवधारणा पर धीरे-धीरे कुठाराघात करना उनकी कुशल रणनीति का हिस्सा है। क्योंकि, `राष्ट्रवाद'एक बड़े स्तर पर `हम' का संघटन करता है। इस `हम' के लोगों में समाज-समुदाय निरपेक्ष समता की आकांक्षा जगती है। यह आकंक्षा शक्तिशाली होकर समतामूलक गंभीर सामाजिक और अंतत: राजनीतिक परिवर्तन के लिए सम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध चुनौती खड़ी करती है। सम्राज्यवादी व्यवस्था के पास एक जोरदार तरकीब है,भूमंडलीकरण। यह भूमंडलीकरण साम्राज्यवादी ताकतों के `एकीकरण' और साम्राज्यवाद विरोधियों के`अकेलीकरण' की पीठिका रचता है। अर्थात पूँजी के वर्चस्व के चरित्र को भूमंडलीय बनता है। भूमंडल के सारे समृद्ध लोगों का एक अलग सुगठित `हम' बन सके और विपन्न लोग किसी बड़े `हम' का संघटन न कर सकें। यानी राष्ट्र-राज्य का वर्तमान ढाँचा बना तो रहे, मगर नि:सार होकर। दुनिया भर के राष्ट्र-राज्यों में संगठित एवं गत्यात्मक बहुराष्ट्रीय पूँजी की अंतर्बद्धता और अंतर्प्रवाह सुनिश्चत हो। इस पूरी प्रक्रिया के अमानवीय आचरण से ऊपजे मानवीय सभ्यता के क्षरण और विचलन को सभ्यताओं के संघात के रूप में प्रचारित कर सम्राज्यवाद की हिंसक मंशाओं को मानवीय चेहरा प्रदान करना भी इस भूमंडलीकरण की परियोजना में शामिल है। याद किया जा सकता है कि भूमंडलीय व्यवस्था के पैरोकार अपनी योजनाओं को मानवीय चेहरा प्रदान करने के लिए तो बहुत चिंतित होते हैं लेकिन अपनी योजनाओं को मानवीय दिल देने की बात तो उन्हें सूझती भी नहीं है।

स्वाभाविक ही है कि आज पूरी दुनिया को जिस एक प्रवृत्ति के कारण सब से अधिक खतरा बताया जा रहा है,वह है आतंकवाद। आम आदमी अपने स्तर पर इस खतरे को न सिर्फ महसूस कर रहा है बल्कि धैर्य एवं साहस के साथ इससे जूझ भी रहा है और इसका शिकार भी हो रहा है। आज जब कि किसी भी क्षेत्र में और किसी भी विषय पर आम सहमति एक दुर्लभ स्थिति है तब दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न और विरोधी रुझान के बड़े-छोटे लगभग सभी लोगों में आतंकवाद के विध्वंसक और सभ्यता-संघातक होने के निष्कर्ष पर आम सहमति है। जब विभिन्न विचारधारा और विरोधी रुझानवाले लोगों में किसी भी बात पर आम सहमति हो तो उसके अतिरिक्त महत्त्व को समझा जा सकता है। इसलिए आतंकवाद के कारण आम आदमी से लेकर खास आदमी तक का मन बहुत ही उन्मथित है। साहित्य का संबंध मानव जीवन की विभिन्न स्थितियों के अंतर्गत उसके मन में उठनेवाली हलचल से तो है ही उसके मन में आ रहे बदलाव से भी है। मनुष्य का मन आज बहुत दुखी है। उसके दुख के कई कारण हैं। उसके दुख के नाना कारणों और कोणों को समझना होगा। दुखी मन संकुचित तो हो ही जाता है। उसके

दुख का ही परिणाम है कि उसके मन का आकाश सिमटकर उसकी अपनी हैसियत के छान-छप्पर के बराबर रह गया है। अपनी हैसियत के इस आकार के तिमिराच्छन्न आकश में उसके लिए किसी शशधर और तारा के होने की कोई गुंजाइश बन ही नहीं सकती है। मन की अंधी गहरी घाटी में बिना किसी संगी-साथी के वह अकेले ही बउआ रहा है,बिना किसी सहचर के बटमारों की भीड़ में चल रहे शंकित बटोही की तरह, प्रतिपल डरा-डरा। मनुष्य के मन के साथ ज्ञान की अन्य सरणियों में सक्रिय विधाओं का भी संबंध तो होता है किंतु मनुष्य के मन के साथ संवेदना की सरणियों में सक्रिय कला, साहित्य और संस्कृति का एक प्रकार का अनन्य संबंध भी होता है। इसलिए राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान एवं सामाज विज्ञान आदि के लिए आतंकवाद के अध्ययन का अपना परिप्रेक्ष्य है तो इनके अलावे कला, साहित्य और संस्कृति के लिए भी इस आतंकवाद को समझ्ने की कोशिश के अपने अनन्य कारण हैं। मानना चाहिए कि राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान एवं समाज विज्ञान आदि के अध्ययनों तथा इन अध्ययनों से प्राप्त उनके निष्कर्षों से ही कला, साहित्य और संस्कृति के विद्याथिर्यों का काम नहीं चलनेवाला है। साहित्य के लिए उनके निष्कर्ष बहुत हद तक उपयोगी तो हो सकते हैं, लेकिन पर्याप्त नहीं हो सकते हैं। साहित्य के विद्यार्थियों को अपने उपयोग के लिए अपना अनन्य उपयोगी निष्कर्ष खुद हासिल करना होगा। वैसे भी अब तक कई मामलों में अन्य प्रयोजनों से किये गये अध्ययनों एवं उन अध्ययनों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को साहित्य के उपयोग के लिए भी ज्यों का त्यों स्वीकार किये जाने के कारण, कम-से-कम, हिंदी साहित्य का कोई कम अहित नहीं हुआ है। अब इस प्रवृत्ति पर बिना किसी और विलंब के तुरंत काबू पाने का प्रयास किया जाना चाहिए। ऐसे में आतंकवाद के विभिन्न पहलुओं पर साहित्य की दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। साहित्य, संस्कृति और समाज के संदर्भ में आतंकवाद पर की जानेवाली किसी भी चर्चा के लिए यह लगभग अनिवार्य ही है कि इस चर्चा में आतंकवाद के विभिन्न पहलुओं के व्यक्ति मन, परावैयक्तिक मन और सामाजिक मन पर होनेवाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं और पड़नेवाली तात्कालिक एवं दीर्घकालिक असर और उस असर से बचाव के प्रति सचेतन भाव से तैयार किये गये सांस्कृतिक अंतर्पाठ का प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वांत:सक्रिय समावेश हो। इस दृष्टिकोण से, अपने समय के वैयक्तिक, परावैयिक्तक और सामाजिक मनोस्वभाव के विकास को थाहने के लिए भी जरूरी है कि आतंकवाद के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न प्रकार से साहित्यिक विमर्श के सातत्य को जारी रखा जाये ताकि नागरिक चेतना की मनोवृत्ति में इस समस्या के मनोवैज्ञानिक प्रभाव से निपटने के प्रति एक प्रकार की मानसिक सन्नद्धता का विकास हो सके।

आतंकवाद क्या है? इसके विभिन्न कारक कौन-कौन से हैं ? इन्हें कैसे पहचाना जाये? इन्हें किस प्रकार से भ्रूणावस्था में ही पहचान कर विनष्ट किया जा सकता है? आगे इनके विकास को कैसे सफलतापूर्वक निरुद्ध किया जा सकता है? आतंकित करनेवाली घटनाओं और आतंकवाद में कोई अंतर है कि नहीं? अगर अंतर है, तो वह अंतर क्या है? निष्कर्ष हासिल करने की जल्दबाजी में किसी सरलीकरण को अपनाने से काम नहीं चलनेवाला है इसलिए बार-बार पूछने और परखने की जरूरत है कि क्या सिर्फ राज्येतर शक्तियाँ ही आतंकवादी होती हैं या राज्य-शक्तियाँ भी अपनी राज्य की सीमाओं के अंदर-बाहर आतंकवादी होती हैं या हो सकती हैं? क्या वैधता और कारणों पर विचार किये बिना किसी भी प्रकार के हिंसक घरेलू विरोध को आतंकवाद से जोड़ दिया जाना,आतंकवाद के प्रसार को निरुद्ध करता है? या फिर इस तरह की राज-प्रशासकीय चेष्टा विभिन्न प्रकार के आतंकवाद के विकास के लिए ही ऊपजाऊ जमीन तैयार करती है? आतंकवाद क्रिया है कि प्रतिक्रिया है? या कार्य-कारण शृँखला की तरह यह अपने चरित्र में बारी-बारी से क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों ही है! ऐसे बहुत सारे

सवाल इस विमर्श की जटिलता को खोलने के प्रयास के क्रम में हमारे सामने बार-बार आ सकते हैं। अपनी सुविधा के निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए या फिर किन्हीं अन्य कारणों से विचार के तयशुदा मुकाम तक पहुँचने की होशियारी के नतीजे बहुत ही खतरनाक हो सकते हैं। आतंकवाद को समझने के लिए सिर्फ तत्पर एवं निष्पक्ष बाह्य-निरीक्षण ही काफी नहीं है बल्कि उसी तत्परता एवं निष्पक्षता से निरंतर आत्म-निरीक्षण भी अनिवार्य है। इसके लिए निरीक्षण-वृत्ति के अंदर बाहर की आवाजाही की बारंबारिता को बनाये रखना आवश्यक है। इसलिए,बहुत ही खुले और पवित्र मन से ही इस साहित्यिक विमर्श में उतरना चाहिए। मन के खुलेपन और पवित्रता में मानव मात्र के लिए ही नहीं बल्कि समस्त जड़-जंगम-जीव-जहान के लिए निर्विकार अनुराग का होना अनिवार्य शर्त्त है। इसके लिए शीश उतार कर भूँई पर धरना होगा। अपने समस्त वैयक्तिक अहं को सामाजिक अहं में अंतरलीन करते हुए अपनी सारी गौरवान्विति एवं सारे पूर्वग्रहों को तिलांजलि देनी होगी। इस शर्त्त को पूरा करना इतना आसान नहीं है। कठिनाई का एक पक्ष खुद सामाजिक संरचना की बनावट से जुड़ा हुआ है। विश्व के समस्त मनुष्य का एक ही समाज अब तक विकसित नहीं हो पाया है। विज्ञान के विकास से उपलब्ध आधारभूत संरचनाओं की प्रभावशील सघनता के बावजूद "मानव समाज" दरअसल, राष्ट्रीय और वैश्विक दोनों ही संदर्भों में कई सामाजिकताओं के समूह का ही अर्थ निरूपण करता है। इन सामाजिकताओं के हित भिन्न ही नहीं कई बार विरोधी और व्याघाती भी होते हैं और इस कारण से इन में भीषण टकराव भी होते रहते हैं। इन टकरावों के कारण ही कई बार एक ही घटना को एक सामाजिकता के नजरिये से क्रांतिकारी अन्य सामाजिकताओं की नजरिये से आतंकवादी माना जा सकता है। इसलिए अपने वैयक्तिक और सामाजिक अहं को विश्व समाज के अहं में अंतरलीन करने की कठिन पूर्व शर्त्त है, एक वैश्विक समाज का निर्माण। इस पूर्व शर्त्त को पूरी करने में किसी भी प्रकार की कोताही करने से न तो समस्या पकड़ में आयेगी और न इस सभ्यता को इस प्रवृत्ति से होनेवाले खतरों से ही बचा पाना संभव होगा। इसके लिए सर्वभूतों को आत्मवत मानने की आंतरिक उदारता और तदनुरूप बाहरी व्यवहार करने का मनोस्वभाव विकसित करना होगा। आंतरिक उदारता और बाहरी व्यवहार में सामंजस्य की यह माँग एक प्रकार से आध्यात्मिक माँग-सी दीखती है। अब तक मनुष्य ने वास्तव में या तो आध्यात्मिकता के नाना उपादानों के सहारे या फिर भौतिकता के विभिन्न प्रावधानों के सहारे अलग-अलग अपनी सभ्यता और संस्कृति के सातत्य को बनाये रखने की संभावनाओं के दोहन का ही प्रयास किया है। हमारा अनुभव बताता है कि सभ्यता के मन में सम्यक शांति तब भी नहीं थी जब आध्यात्मिकता के प्रति आस्था के अनुरूप सामाजिक आचरण अपनी संभावनाओं के कथित उच्चतम सोपान पर था, सभ्यता के मन में प्रसन्न शांति तब भी नहीं समा पाई जब भौतिकता के विकास के सहारे विज्ञान ने इस मानव सभ्यता-संस्कृति को सर्वाधिक सक्षम और समृद्ध बना दिया है। तो फिर, चूक कहाँ है? इस सवाल का जवाब अपने सांस्कृतिक जीवन के अनुभवकोष से मनुष्य को हासिल करना होगा। अनुभव बताता है कि मनुष्य की संपूर्ण विनिर्मिति की विचित्रता और सार्थकता भी संभवत: इस बात में है कि वह न तो पूरी तरह आध्यात्मिक है और न ही पूरी तरह भौतिक है। वह आध्यात्मिकता और भौतिकता का मिला-जुला रूप है। यदि इस मंतव्य को सत्य के जरा भी निकट पाया जाये तो माना होगा कि मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का बचाव इसी में है कि वह आध्यात्मिक उच्चता की सैद्धांतिकी की भौतिक आख्या का सांस्कृतिक पुनर्पाठ तैयार करने में अपनी मेधा का प्रयोग करे।

पहले आतंकित करनेवाली घटना और आतंकवाद पर विचार करें। ईर्ष्या आदि का मनुष्य के मन में अपना स्थान होता है लेकिन सहज रूप से मनुष्य का स्वभाव है कि वह दूसरों के शुभ को देखकर प्रसन्न होता है और दूसरों के

अशुभ की स्थिति को देखकर भयभीत होता है। शुभ-अशुभ की आवृत्ति और बारंबारिता में जितनी तीव्रता होती है, मनुष्य के प्रसन्न और भयभीत होने की स्थिति में भी उतनी तीव्रता और बारंबारिता आती है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि मनुष्य किसी भी भाव को स्वाभावत: अपने ऊपर घटाकर ही उसे समझ सकता है। हर बार उसे 'माली आवत देखि के कलियन करी पुकार, फुली फुली चुनि लिए काल हमारी बार' की तर्ज पर लगता है कि इस बार तो जो सो, शुभ-अशुभ के चक्र में अब अगली बारी उसी की है। आतंकित करनेवाली घटनाओं की आवृत्ति से उसके मन में भय का स्थाई भाव बन जाता है। ज्ञात तथ्य है कि भयभीत मनुष्य एक ही साथ भोग और भगवान दोनों की ओर बड़ी तेजी से बढ़ने की कोशिश करता है। आतंकवाद के सब से बड़े शिकार तो खुद वे होते हैं, जो अपनी जान की परवाह किये बिना आतंकवादी शिविरों में शामिल हो कर आतंक फैलाने की कोशिश में लगे रहते हैं। आतंकवादी कार्रवाई में लगे लोगों की धार्मिक शरणागति की धर्म विरोधी प्रवृत्ति और भोगवादी वृत्ति को बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के सहज ही लक्षित किया सकता है। डरे हुए आदमी की सारी ऊर्जा, डर से बाहर निकलने में ही खर्च हो जाती है, जो थोड़ी-बहुत ऊर्जा बची रहती है वह सुरक्षा की तलाश में लग जाती है। डर की अवस्था में मनुष्य का धैर्य चुक जाता है। उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है। डर की अवस्था में, मनुष्य की प्रतिरोधी क्षमता दबाव में आकर अपने निम्नतम स्तर पर पहुँच जाती है। दबाव में आकर निम्नतर स्तर पर पहुँच चुकी इस प्रतिरोधी क्षमता में कभी-कभी भारी उछाल भी पैदा हो जाती है। इस उछाल के आघात से फिर आतंकित करनेवाली घटनाओं का ही जन्म होता है। इस प्रकार आतंक और प्रति-आतंक की एक स्वचालित शृंखला की शुरुआत होती है और समाज एक डरे हुए समूह में तब्दील होता जाता है।

"वाद" का संबंध विचार सरणियों की सूत्रात्मकता से होता है। आतंकवादी लोगों के द्वारा, आतंकित करनेवाली घटनाओं के मन पर पड़नेवाले असर की प्रविधि को जानते हैं। आतंक का इस्तेमाल आतंकवाद के प्रयोजन विशेष को सिद्ध करने के लिए, आतंकवाद के वैचारिक आधार की सूत्रात्मकता आतंकवाद तैयार करता है। आतंक के वैचारिक और प्रकार्यात्मक आधार की सूत्रात्मकता के समुच्चय को आतंकवाद कहा जा सकता है। आतंकित करनेवाली घटनाओं को होने देने से रोकने में पुलिस और प्रशासन, सत्ता और सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है लेकिन जहाँ तक आतंकवाद से जूझने की बात है तो उससे सिर्फ विचार के बल पर ही जूझा जा सकता है और गहन मानवीय संवेदना के बल पर ही जूझने की दीर्घसूत्री प्रक्रिया के सातत्य को बचाया जा सकता है। आतंकवाद से लड़ना विचारक का काम है। क्योंकि आतंक के "वाद" का जहाँ तक सवाल है वह खुद अपने-आप में विचार ही होता है, यह दीगर बात है कि वह कुत्सित विचार होता है, किंतु होता है विचार ही। साहित्य का काम मनुष्य के मन के अंदर आतंकवाद के विचार-समुच्चय को अस्वीकार्य करनेवाली प्रवृत्ति के बहुविध पोषण का है। मनुष्य के मन में प्रसन्नता के लिए अवकाश रचने का है। मनुष्य के मन को, उसकी अपनी हैसियत के छान-छप्पर की सीमा से बाहर निकालकर, प्रकृत वैश्विक समाज के आकाश का विस्तार प्रदान करना है, ताकि वह सांस्कृतिक सूरज, चाँद, ग्रह, नक्षत्रों से संवाद करता हुआ तादात्मीयकरण के माध्यम से जीवन-संबंधों के मनोरम पक्ष को पुनरआविष्कृत करने की प्रक्रिया के सातत्य को बनाये रख सके। यह काम समताकांक्षी लोकतांत्रिक विचारधारा के उच्चारण मात्र से ही संभव नहीं है, इसके लिए लोकतंत्रीय जीवन-स्थिति वैश्विक-लोक को हासिल करवाने,लोकतंत्र के सार को अबाध गति से नि:सृत होकर वैश्विक-लोक तक पहुँचने देने की प्रक्रिया को अधिकतम संभव दक्षता और ईमानदारी से जारी रखने का दृश्यमान प्रयास जरूरी है। इसके साथ ही लोकतंत्र के छल से लोक के मन की भावधारा के अंत:स्रोत के गोमुख पर जमा हो गये नाना प्रकार के अवरोधों और कूड़ा-कर्कट को साफ

करने की लोक-सक्रियता भी जरूरी है। इस सभ्यता की बहुमुखी वर्तमान चुनौती के संदर्भ में राजनीति और साहित्य के संबंध और उनकी प्रतिपूरकता के महत्त्व को समझा जा सकता है। मनुष्य के वैयिक्तक मन,परावैयिक्तक मन और सामाजिक मन में निरंतर चलनेवाले वाद-विवाद की प्रक्रिया में आनेवाले किसी भी प्रकार के गतिरोध का दूर करने, उन्हें प्रतिवादी बनने से रोकने एवं संवादी स्थिति में उसे सक्रिय रखने की चुनौतियों के समग्र तथा जटिल स्वरूप को समझने की भी आवश्यकता है। समझना होगा कि आतंकवाद के प्रतिवाद पर विचार क्रिया भी है और प्रतिक्रिया भी है।

इस आलेख को शुरू करने के पहले ही महत्त्वपूर्ण कथाकार शेखर जोशी की कहानी "आदमी का डर" से लिया गया बहुअनुभूत उद्धरण एक बार फिर : "बच्चों के होश सँभालने के साथ ही माँएँ उनके मन में एक आतंक भर देती थीं। यह सामान्य सा मुहावरा था 'हुणियाँ' आया। सुनते ही रोते हुए बच्चे सहम कर चुप हो जाते और जिद्दी बच्चा अपनी माँगें भूल जाता था। ऐसे ही वातावरण में हम पले बढ़े थे। " यह हमारी जानी हुई स्थिति है। मातृ-सत्ता जो संतान को सब से अधिक प्यार करती है वह भी एक प्रकार के आतंक का सहारा लेकर अपनी संतान की जिद्दी माँग को तोड़ती है। जाहिर है कि साम, दाम, और भेद से काम नहीं चल पाने की स्थिति में राज्य-सत्ता भी शासन करने के एक हथियार के रूप में भय और आतंक का सहारा लेती है। कई बार जनता की जायज माँग को भी तोड़ने के लिए राज्य-सत्ता इस मानोवैज्ञानिक तकनीक का प्रयोग करने से अपने-आप को बरज नहीं पाती है। राज्य-सत्ता के पास अगर माँ की तरह का ममत्वपूर्ण मन न हो, कोमल और शुभंकर हृदय न हो तो उसके हाथ में उपलब्ध शासन की यह मनोवैज्ञानिक तकनीक भयंकर हो जाती है। ऐसी स्थिति में पूरा समाज आतंक और प्रति-आतंक के तनावों और दबावों से जूझता हुआ राज्य विहीनता की अराजक स्थिति के दलदल में फँसता चला जाता है। आतंक का "वाद" हो कि प्रति-आतंक का "वाद" उनका परिणाम प्राय: एक ही होता है, तर्क चाहे कुछ-कुछ भिन्न ही क्यों न हों। सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न उपादानों की गति-प्रकृति में वैषम्यवर्द्धक विभिन्न अभिप्रेरकों के रहने के कारण जनता और राज्य के बीच अंतराल विकसित होता है। अपने काव्य संकलन "आत्म हत्या के विरुद्ध " (1967) की भूमिका में रघुवीर सहाय ने लिखा है, "लोकतंत्र --मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" अंतराल की इसी जमीन पर लोकतंत्र के दिखाये स्वप्न और लोकतंत्र के उपजाये यथार्थ के तनाव में फँसकर आदमी का मन मरने लगता है। आधा जिंदा और आधा मुर्दा मन लिए आदमी इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच अपनी जीवन यात्रा जारी रखने को विवश होता है। इस आधे मरे हुए मन के सड़ने से ही आतंकवाद के जीवाणुओं का जन्म होता है। नागार्जुन की चेतावनी को याद करें तो, तरुणों के सामने डाकू बन जाने के अलावे कोई रास्ता नहीं बचता है। राज्य और जनता के बीच बने इस दुर्निवार अंतराल में कई स्वार्थ-समूह सदैव सक्रिय रहते हैं। यह अंतराल जितना बड़ा होता है, उतने ही बड़े एवं अधिक स्वार्थ-समूह एवं समूहों की सामाजिक वैधता के लिए जगह बनती है। इन स्वार्थ-समूहों की भी अपनी एक सत्ता होती है और वह सत्ता भी अपने स्वार्थ साधने के लिए आतंकवाद का उपयोग अपने ढंग से करती है। इसलिए आतंकवाद से लड़ने के लिए जरूरी है कि जनता और राज्य के बीच अंतराल बढ़ानेवाले तथा सभ्यता और संस्कृति के वैषम्यवर्द्धक विभिन्न अभिप्रेरकों को निष्क्रिय किया जाये। इसके लिए जनता की सामान्य सामाजिक सहनशीलता की परिधि से दुर्निवार वैषम्य के बाहर हो जाने से रोकने के लिए प्राण-प्रण से तत्पर मानसिकता का निर्माण किया जाना जरूरी है। विषमता का पहला और व्यापक प्रभावी स्थान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिक्षेत्र में निर्मित होता है। सामाजिक,राजनीतिक और आर्थिक परिक्षेत्र में काम करनेवाले विभिन्न अभिकारक जो आतंकवाद से लड़ना चाहते हैं उन्हें अपनी योजनाओं के कार्यन्वयन को

अंतिम रूप देने के पहले अपनी योजनाओं की विषमतारोधी क्षमता की पहचान और इसके अंदर इस विषमतारोधी प्रवृत्ति के क्रियाशील समावेश के लिए विशेष सचेष्ट होना चाहिए। मनुष्य के अंतर्मन में प्रवेश कर सकने की क्षमता और अनुमति कला और साहत्यि के पास होती है। कला और साहित्यिक रचनाएँ मनोग्रंथियों को रचनात्मक स्तर पर खोल सकती हैं, नये सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ ताल मिला कर जीवन की रमणीयता को महसूस करने में सक्षम लोक-मन का उपयुक्त मनोविकास कर सकती हैं। "जो है" उसके होने के आनंद और अनुभव का आस्वाद उपलब्ध करवाते हुए "उससे बेहतर" की तलाश में सतत उत्कंठित मन के परिगठन के लिए जाति के जीवन में जगह बनाना कला एवं साहित्यिक रचनाओं का काम है, यह काम करते हुए ही कला एवं साहित्यिक रचनाएँ आतंकवाद से लड़ने में मददगार हो सकती हैं।

विकास का संबंध रोजगार के अवसरों की उपलब्धता से है। जो विकास रोजगार के नये-नये अवसर उपलब्ध करवाने के बदले उपलब्ध अवसरों को भी मारता हो उसे विकास कहने के पहले दो बार सोचना चाहिए। अंततः वैषम्यवर्द्धक विकास का सीधा संबंध आतंकवाद से जुड़ता ही है। भारत में बढ़ती हुई आबादी एक समस्या है। उससे बड़ी समस्या है आबादी का कुप्रबंध। नगर-केंद्रिक विकास का गलत ढाँचा। विकास के नगर केंद्रिक होने के कारण शहरी आबादी में निरंतर तीव्र वृद्धि के रुझान बनते रहे हैं। इस रुझान के कारण महानगरों पर आबादी का अनुत्पादक भारी दबाव बढ़ रहा है। यह अनुत्पादक दबाव इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि सचमुच नगर प्रबंध असंभव होता जा रहा है। नागरिक सुविधाओं का प्रवाह बाधित हो रहा है, फिर चाहे वह प्रवाह पानी का हो,बिजली का हो, शिक्षा का हो, आवागमन का हो, सफाई या अस्पतालों से ही जुड़ा क्यों न हो। इस अनुत्पादक आबादी के दबाव को कैसे कम किया जा सकता है, अनुत्पादक आबादी को कैसे उत्पादक आबादी में बदला जाये इस पर गौर करना जरूरी है; यह हमारी चिंता का एक प्रमुख कारण होना चाहिए। जल, जमीन, जंगल और आजीविका से बेदखल लोग रोजगार की तलाश में चिंटियों की तरह कतार बाँधकर महानगर की ओर आते हैं। चिंटियों को दूसरी तरफ मोड़ने के दो उपाय हैं। पहला यह कि गुड़ को उस जगह से हटा दिया जाये। दूसरा यह कि चिंटियों को मार दिया जाये। गुड़ को हटाने के लिए कोई आसानी से तैयार नहीं होता है। चिंटियों के मारने के लिए हर कोई लपकता है। लेकिन क्या यह इतना सरल मामला हो सकता है, खासकर तब जब यहाँ गुड़ का अर्थ रोजगार की संभावना है और चिंटी का अर्थ नागरिक-मनुष्य है।

उदाहरण के लिए, शिव सैनिकों की प्रेरणा से `भूमिपुत्रों' का एक अभियान मुंबई में शुरू हुआ है। शिव सैनिक इस तरह की प्रेरणाओं के लिए पहले से ही काफी चर्चित रहे हैं। मीडिया में इसकी चर्चा है। लकिन मीडिया इसे चुनावी कौशल के रूप में प्रचारित कर इस अभियान के विषदंत को मामूली भी बना रहा है। यह गैर-मामूली बात है। इसे गैर-मामूली ढंग से समझना होगा। वैसे एक बार स्मरण कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि `अयोध्या विवाद' का दैत्य भी चुनावी कौशल के रूप में ही प्रकट होकर समाज में विकट हो गया। इसलिए, शिव सैनिकों की प्रेरणा से मुंबई में शुरू हुए `भूमिपुत्रों' के इस अभियान के भी विकट होने की पूरी आशंका है। यह अभियान इसलिए गैर-मामूली है कि इसका संबंध हमारी सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक बुनावटों से बहुत गहरा है। आर्थिक भूमंडलीकरण और वैचारिक उत्तर-आधुनिकता का संश्रय `स्थानिकता', `सामाजिकता', `जातीयता' और `राष्ट्रीयता' को एक दूसरे की सहयोजी अवधारणा के उपवन से विचलित कर वियोजी अवधारणाओं के वन में हाँक कर ले जाता है और `वीरतापूर्वक' एक-एक कर उनका `शिकार' करता है। इस संश्रय

के भारतीय पाठ को `सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' जैसे मोहक पद में अंतर्निहित समझा जा सकता है।

सवाल यह है कि किसी महानगर से देश के अन्य रज्य के वाशिंदे भारतीय नागरिक के संबंध और जिस राज्य में महानगर अवस्थित है उस राज्य के वाशिंदे भारतीय नागरिक के संबंध और अधिकारिकता में क्या कोई बुनियादी अंतर होता है? क्या मुंबई महानगर मराठियों का और कोलकाता बंगालियों का,चेन्नई तमिलों का ही शहर है? फिर दिल्ली किसका शहर है? क्या किसी राज्य के शहर या उस राज्य के सार्वजनिक संस्थानों पर उस राज्य के मूल वाशिंदे भारतीय नागरिक का ही एकाधिकार होता है? अन्य रज्य के वाशिंदे भारतीय नागरिक का उन पर कोई अधिकार नहीं होता है? अन्य रज्य के वाशिंदे भारतीय नागरिक की आधिकारिकता उस राज्य के वाशिंदे भारतीय नागरिक की आधिकारिकता की तुलना में कमतर होता है! इस तरह के कई मूलभूत प्रश्न आज उत्तर माँग रहे हैं। यह बात बिल्कुल साफ हो जानी चाहिए, ताकि लोगों के मन में किसी प्रकार के भ्रम के लिए कोई गुंजाइश न रहे। किसी शहर या राज्य में कौन भीतरी होता है और कौन बाहरी यह तय हो ही जाना चाहिए। महाराष्ट्र में ही नहीं, झारखंड में भी `डोमिसाइल' नीति को लेकर भयंकर तनाव उत्पन्न हो गया है। देश के अन्य भागों में भी इस तरह के मामले उठते रहते हैं। अपने मूल राज्य से बाहर रहनेवाले लोगों पर, खासकर बच्चों पर इसका बहुत विपरीत मनोवैज्ञानिक असर होता है। यह मनोवैज्ञानिक असर लोगों को भारत राज्य और राष्ट्र के साथ उनके लगाव का कमजोर बनाता है। मुंबई महानगर हो, कोलकाता महानगर हो या देश का कोई और महानगर या सार्वजनिक संस्थान और संपद हो, सभी भारतीय नागरिकों का उस पर समान अधिकार है। निश्चित रूप से यह समान अधिकार नि:शर्त्त है। यदि उसकी कुछ शर्त्तें हैं भी तो वे हमारे संघात्मक ढाँचे से तय है। `भूमिपुत्रों' के हठ के पास इन शर्त्तों को तय करने का अधिकार नहीं है। भारत के संघीय ढाँचा को बिखराव की आशंकाओं से बचाने के लिए संघ सरकार को हर हाल में यह सुनिश्चित करना चाहिए कि भारतीय संविधान द्वारा सभी भारतीय नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकार का हनन करनेवाले किसी भी प्रयास, वक्तव्य और इसके पीछे सक्रिय व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह अथवा दल को तुरंत कानून के घेरे में लेने की संतोषजनक व्यवस्था की जाती है।

सच है कि महानगर पर दबाव बढ़ रहा है। इस दबाव को कम करने का उपाय हर किसी को मिलकर करना चाहिए। एक उपाय तो यही है कि विकास की नई परियोजनाओं को प्रतिष्ठित महानगरों से बाहर नये स्थानों पर पर खोले जाने को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। बाजारों के लिए नये नगरों को तैयार करने की संभावनाओं का पता लगाया जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए `भूमिपुत्र' तैयार नहीं होंगे। कोई शौकिया झेपड़पट्टी में या फुटपाथ पर नहीं रहता है। बहुत कठिन और दुर्घर्ष होती है वहाँ की जिंदगी। इतनी लाचारी भरी और बेबस कि कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है। हर समय अपने बाहरी -- अर्थ-व्यवस्था में बाहरी, शिक्षा व्यवस्था में बाहरी,विकास की हर परियोजना में बाहरी -- साबित हो जाने की आशंकाओं से घिरा-घिरा और मन में चोर भाव दबाये आदमी अमानुष होने की ओर तेजी से बह जाता है। माननीय न्यायालय ने अपने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय में सुनाया है कि नदी पर अधिकार सिर्फ उसके किनारे रहनेवालों का ही नहीं होता है। इस निर्णय के पीछे अपनी वाजिब तार्किकता है। इस तार्किकता से सहमत होते हुए यह समझा ही जा सकता है कि नदी पर अधिकार उसके किनारे रहनेवालों का भी उतना ही है जितना उससे दूर रहनेवालों का। यहाँ मुख्य सवाल यह है कि महानगरों पर अधिकार किसका होता है! महानगरों पर पूरा अधिकार क्या सिर्फ महानगरों में रहनेवाले `भूमिपुत्रों' का ही होता है? क्या किसी सार्वजनिक संस्थान पर पूरा अधिकार वहाँ काम करनेवाले कर्मचारियों और बाबुओं का ही होता है? इसके पहले कि देश के विभिन्न स्थानों

के `भूमिपुत्रों' की कृपा की कुतार्किकताओं के ताप से मकई के लावे की तरह अपने ही खिलाफ जनाक्रोश फूटने लगे, संवैधानिक संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए। न सिर्फ ध्यान चाहिए बल्कि किसी भी भारतीय नागरिक को भारत के किसी भी हिस्से में बाहरी घोषित किये जाने की प्रवृत्ति का पूरी कठोरता से दमन करना चाहिए। निराशा तब बहुत बढ़ जाती है जब संवैधानिक प्रावधानों को संवैधानिक संस्थाएँ भारतीय राज्य और राष्ट्र के जीवनसूत्र के रूप में अपनाने के बदले उसके प्रति एक प्रकार का यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाने लगता है। मुश्किल और खतरनाक बात यह है कि इतने संवेदनशील मामलों में भी सत्ताधारी एवं सत्ताकांक्षी वर्ग और दल चुनावी दंगल जीतने की संभवानाओं को तौल कर अपना एजेंडा तय करता है।

मुंबई महानगर मराठियों का है। वे इसे गर्व करने लायक बनाना चाहते हैं। इसके लिए `भूमिपुत्र' रह-रहकर सक्रिय होते रहते हैं। असल बात तो यह है कि सिर्फ मराठी होने से ही कोई `असली भूमिपुत्र' नहीं हो जाता है। असली होने के लिए उसे शिवसैनिक होना होगा। जैसे हिंदू परिवार में जन्म लेने और पूजा-जाप करने से ही कोई`असली हिंदू' नहीं हो जाता है। जैसे शिवसैनिकों की नजर में जस्टिस श्री कृष्ण `असली हिंदू' नहीं थे। असली हिंदू होने के लिए उनका समर्थक ही नहीं, `अनुयायी' होना होगा, उनके हितों के लिए जान लगा देनी होगी, उनके सच को सच और उनके झूठ को झूठ मानना और बताना होगा। `राष्ट्रभक्त' होने या नहीं होने का प्रमाणपत्र भी वही जारी करते हैं। राष्ट्र के लिए दिन-रात खून-पसीना बहानेवाले राष्ट्रभक्त हो सकते हैं, लेकिन `असली राष्ट्रभक्त'होने का प्रमाणपत्र तो वही जारी कर सकते हैं! ताबूत-तहलका में लिप्त होकर भी `असली राष्ट्रभक्त' होने का प्रमाणपत्र हासिल किया जा सकता है। शर्त्त वही अनुयायी होना ही है -- एक ही पुकार है ; मामेकं शरणं ब्रज। शरणदाता खुद भले माइकल जैक्सन के दीवाने हों। शरणागत को `भारतीय संस्कृति' की रक्षा के लिए `वैलेंटाइन डे' के विरोध के नाम पर हर साल कुछ लोगों की `बलि' लेने की कोशिश करनी चाहिए। हर साल कुछ सिनेमा के पोस्टर फाड़े जाने चाहिए, कुछ न कुछ तोड़-फोड़ करना चाहिए, कुछ लोगों को बाहरी बताकर प्रताड़ित किया जाना चाहिए, क्रिकेट की पीच खोदने का अवसर ढूढ़ निकालना चाहिए। जब `असली राष्ट्रभक्त' होने का प्रमाणपत्र वही जारी करते हैं तो बहुत ही स्वाभाविक है कि `मुंबई भक्त' होने का प्रमाणपत्र जारी करने का अधिकार भी उन्हीं के पास सुरक्षित है। वे बड़े `तर्कशील' हैं, वे साबित कर देंगे कि राष्ट्र से बड़ा है महाराष्ट्र! महाराष्ट्र के `हित' में राष्ट्र को न्यौछावर करने के औचित्य का निर्वाह करना वे खूब जानते हैं। उनका उत्साह भरपूर है। वे अपने इस अभियान में बड़े लेखकों, कलाकारों को भी जोड़ना चाहते हैं। अपने को `मुंबई भक्त' और`असली भूमिपुत्र' साबित करने का अवसर वे बड़े लेखकों, कलाकारों को देना चाहते हैं। बड़े लेखकों, कलाकारों की ओर से भी यथा-अवसर इसकी पहल होती रहती है।

इन `मुंबई भक्तों' और `असली भूमिपुत्रों' को यह तो बताना ही चाहिए कि वे किस अधिकार से अयोध्या में टाँग अड़ाते हैं। किस अधिकार से इस देश के `दूसरे' हिस्से में सांप्रदायिकता का तांडव करते रहते हैं। वहाँ के लोगों के नागरिक अधिकार से इनके नागरिक अधिकार किस आधार पर अधिक हैं। सवाल तो यह भी उठेगा कि गाँव के लोगों के नागरिक अधिकार किस आधार पर और किस अर्थ में कम हैं। ध्यान रहे यह देश बहुत बड़ा है। इसकी बुनवाट के ताना-बाना को छेड़ा जायेगा तो और भी कई तरह के बखेड़े खड़े हो सकते हैं। कहनेवाले कहते हैं कि भारत एक बड़ा देश ही नहीं, बड़ा बाजार भी है। भारत को बाजार कहनेवालों के जेहन में मुंबई ही नहीं हुआ करता है। कहीं ऐसा न हो कि देश के `दूसरे' हिस्से के `भूमिपुत्र' मुंबई और महाराष्ट्र से उत्पादित उपभोक्ता सामग्रियों एवं

अन्य उत्पादों के बहिष्कार का मन बनाने लग जायें। यह बड़ा ही विकट होगा।

भूमंडलीकरण विकास और पूँजी के अतिकेंद्रण को जन्म देता है। केंद्र में हर किसी को समायोजित करने की क्षमता नहीं होती है। जो समायोजित नहीं हो पाते हैं, वे अपने लिए नये केंद्र के निर्माण में जुट जाते हैं। इस नये केंद्र के निर्माण का ही दूसरा नाम है, स्थानीयकरण। इसलिए, भूमंडलीकरण का स्वाभाविक प्रतिफलन स्थानीयकरण है। पुराने केंद्र और नये केंद्र में तनाव और टकराव बढ़ता है। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्य की विभिन्न सामाजिकताओं के संरक्षण के लिए आंतरिक संतुलन की बहुत जरूरत होती है -- आंतरिक संतुलन, भौतिक विकास के क्षेत्र में। आंतरिक संतुलन -- मानव विकास के क्षेत्र में। आंतरिक संतुलन -- उत्पादन और उपभोग के अवसरों के वितरण और विकेंद्रण के क्षेत्र में। एक कुशल और सचेत राजनीतिक प्रबंध ही परिश्रम से इस संतुलन को बनाये रखने में कामयाब हो सकता है। `सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' संतुलन के प्रति न तो सचेत है और न ही संवेदनशील है। इसलिए `सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' भूमंडलीकरण के इस स्वाभाविक प्रतिफलन को और अधिक विषैला बनाता है।

सोचने की बात यह है कि जो वर्ग गाँव में अन्न उपजाता है, उसी वर्ग का कोई सदस्य शहर में दुख काटकर भी जीने के लिए अपना पैर जमाने की कोशिश करता है। महानगर के `महानागरिकों' की सेवा करते हुए अपनी पूरी उम्र खपा देता है। कोई शहर या महानगर अपने राष्ट्र-राज्य से विच्छिन्न नहीं हो सकता है। महानगरों की स्थितियाँ अपने राष्ट्र-राज्य की स्थितियों, चाहे वह राजनीतिक हो, आर्थिक हो सांस्कृतिक ही क्यों न हो, से पूर्ण विमुक्त और बिल्कुल अलग नहीं हो सकती हैं। महानगरों को बेहतर बनाना हो तो मुल्क को बेहतर बनाने की बात सोची जानी चाहिए। मुल्क विपन्न रहे तो महानगर संपन्न नहीं हो सकता है। आज बहुराष्ट्रीयता की बयार बह रही है। विदेशी नागरिकता प्राप्त कर चुके भारतीय मूल के संपन्न लोगों को दोहरी नागरिकता प्रदान करने पर गंभीरता से विचार हो रहा है। देश में उनके आगमन और अगवानी के लिए तैयारी चल रही है। जाहिर है, जो संपन्न हैं वे कई देशों की नागरिकता का अधिकार पा सकते हैं। जो विपन्न हैं उनके लिए अपने देश की भी वास्तविक और व्यवहार्य नागरिकता और नागरिक अधिकार दुर्लभ हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि नगर में रहनेवाले लोग ही तो `नागरिक' हैं! जो नगर का है उसी के लिए नागरिक अधिकार सुरक्षित होते हैं!नागरिक को उर्दू में `शहरी' और अंग्रेजी में `सिटीजन' कहा जाता है। उपनिवेशन की बाहरी प्रक्रिया का आत्म-उपनिवेशीकरण की अंदरुनी प्रक्रिया से भी गहरा संबंध होता है। कितना भयावह है यह सोचना कि बाहरी उपनिवेशन की चपेट में आता जा रहा हमारे राष्ट्र का बड़ा हिस्सा अपने महानगरों के भी उपनिवेश बनने की दिशा में तेजी से अग्रसर हो रहा है। संतोष की बात यह है कि इस तरह का कोई अभियान उस रूप में बड़े स्तर पर उठान में नहीं है। लेकिन चिंता की बात यह है कि एक जगह की आग तेजी से दूसरी जगह भी फैलती है। पता नहीं महानगरों पर दबाव के बहाने आये `असली भूमिपुत्रों' का यह उछाल आगे चलकर क्या गुल खिलायेगा।

आतंकवाद का सीधा संबंध सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विषमताओं से होता है। ये विषमताएँ न सिर्फ आतंकवाद के जन्म का कारक बनती हैं बल्कि उसकी वैधता का आधार भी रचती है। विवेकहीन साम्राज्यवादी विकास की वक्रता जहाँ लोगों को विकास के समुचित अवसर से वंचित करती है वहीं साम्राज्यवादी विकास का स्थगित विवेक वंचित लोगों के मन में विषमताओं के हवाले से पनपे क्रोध और असंतोष की तीव्रता को अनियंत्रित हिंसा की हद तक फैल जाने से अंतत: रोक नहीं पाता है। आतंकवाद से निपटने के लिए जो सबसे

कारगर शक्ति मनुष्य के पास है वह खुद उसका अपना विवेक ही है, समग्र, सम्यक और सतत सक्रिय विवेक। इस समग्र, सम्यक और सतत सक्रिय विवेक का अंत:प्रवाह ही मन की पवित्रता को कायम रख सकता है। इस समुन्नत विवेक के बिना कोई ज्ञान, विज्ञान, कानून, सेना, पुलिस, उपदेश, धर्मशास्त्र आतंकवाद पर काबू नहीं पा सकता है। यह समुन्नत विवेक हवा में नहीं पैदा होता है। इसके पैदा होने और सक्रिय होने के लिए ठोस विश्व-सामाजिक आधार चाहिए। मनुष्य मात्र की समता और सम्मानता के प्रति तीव्र आग्रह चाहिए और चाहिए अगाध विश्व-सामाजिक प्रेम। आजकल बाजार में प्रेम के विभिन्न ब्रांड हैं! लेकिन क्या सचमुच यहाँ जब हम प्रेम कह रहे हैं, तो क्या उन्हीं ब्रांडों में से किसी एक ब्रांड की ओर इशारा कर रहे हैं! इन ब्रांडों में तो प्रेम का आभासी रूप ही हम पाते हैं। इस आभासी प्रेम का भी अपना सामाजिक और जैविक महत्त्व है और उस महत्त्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है, नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन यह आभासी प्रेम मनुष्य के भविष्य लिए पर्याप्त नहीं होता है। कबीर से प्रेरणा और प्रमाण प्राप्त कर हम यकीन कर सकते हैं कि प्रेम की गली बहुत सँकरी होती है। इसमें दो की स्थिति ही नहीं बनती है। यह प्रेम कोई खाला का घर नहीं है कि सिर उठाये घुस गये। यह न तो खेत में ऊपजता है और न हाट में बिकता है। राजा हो या प्रजा, मंत्री हो या संतरी इसे पाने की आसान-सी शर्त्त यही है कि अपना शीश दो और बदले में जितना चाहो प्रेम ले जाओ। यानी विश्व-समाज के समक्ष अपने वैयक्तिक और सामाजिक अहं के संपूर्ण विसर्जन के बिना विश्व-समाज से वास्तविक प्रेम नहीं किया जा सकता है। आतंकवाद से लड़ने के लिए तो चाहिए ऐसा ही अगाध विश्व-सामाजिक प्रेम। चूँकि आतंकवाद का प्रसार विश्ववयापी घटना है इसलिए यह अगाध विश्व-सामाजिक प्रेम ही आतंकवाद से निपटने का एकमात्र उपाय, औजार और हथियार उपलब्ध करवा सकता है। इस अगाध विश्व-सामाजिक प्रेम के लिए जो सभ्यता अपने अंदर अवकाश नहीं बना सकती है उसे आतंकवाद के नतीजों को भोगने के लिए भी तैयार रहना ही चाहिए। दुहराव के दोष की चिंता किये बिना एक बार फिर याद कर लेना उचित प्रतीत होता है कि सभ्यता और संस्कृति का बचाव इसी में है कि वह अपनी विचार यात्रा और व्यवहार प्रवणता में आध्यात्मिक उच्चता की सैद्धांतिकी की भौतिक आख्या के सांस्कृतिक पुनर्पाठ को पुनर्गठित करे। आतंकवाद से लड़ने और मनोरम जीवन को सुनिश्चित करने की ओर कदम-दर-कदम बढ़ने के लिए इस सांस्कृतिक पुनर्पाठ को तैयार करने में आज साहित्य, कला और संस्कृति कर्म की सार्थक भूमिका और महत्त्व की तलाश की जानी चाहिए।

कृपया, निम्नलिंक देखें---

1.धर्म, आतंक और समाज

2. धर्म निरपेक्ष राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज